1960G On Hospitality versus Charity

Atithi Samvibhag aur Daan (In Anekant, 1960)

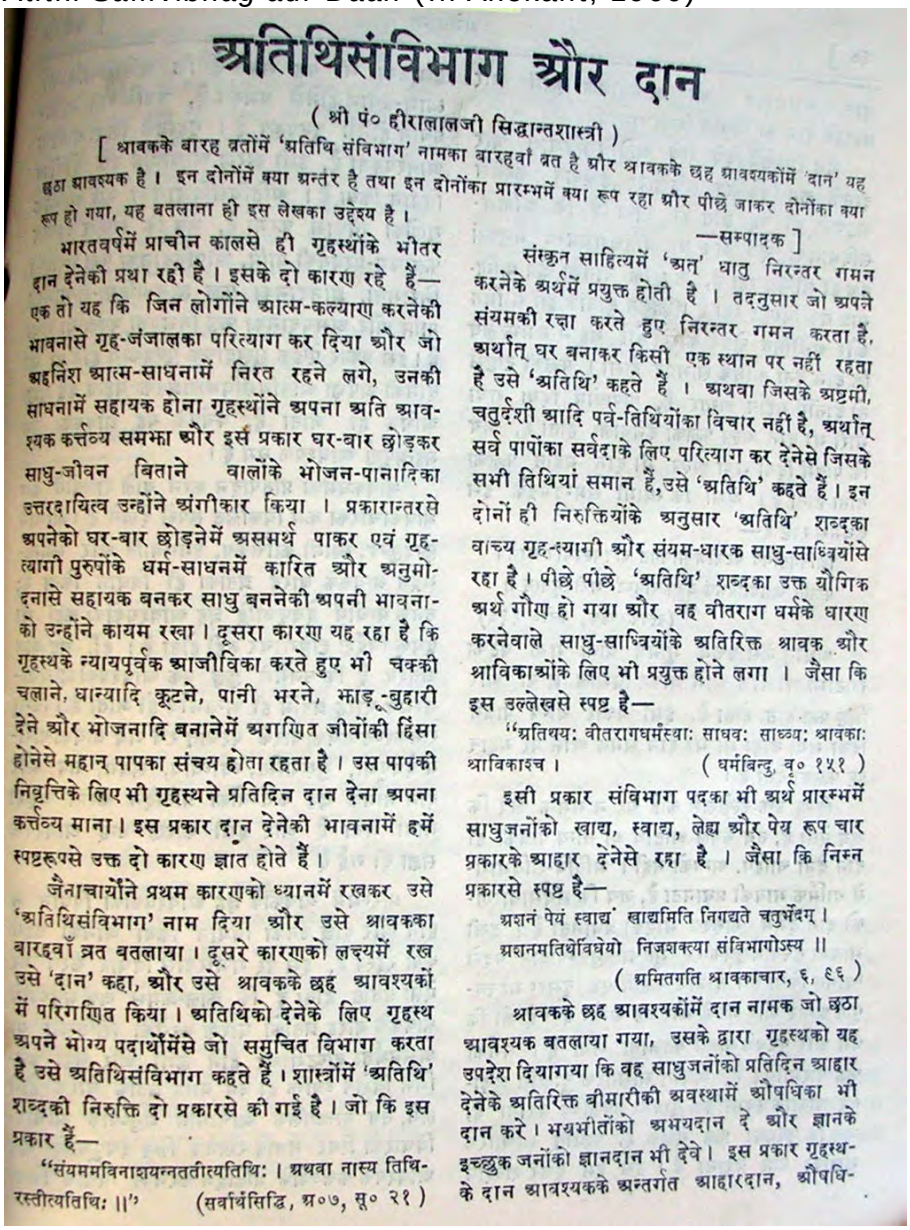

अतिथिसंविभाग और दान

(श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री)

[श्रावकके बारह व्रतोंमें 'अतिथि संविभाग' नामका बारहवाँ व्रत है और श्रावकके छह आवश्यकोंमें 'दान' यह छठा आवश्यक है। इन दोनोंमें क्या अन्तर है तथा इन दोनोंका प्रारम्भमें क्या रूप रहा और पीछे जाकर दोनोंका क्या रूप हो गया, यह बतलाना ही इस लेखका उद्देश्य है।

—सम्पादक]

भारतवर्षमें प्राचीन कालसे ही गृहस्थोंके भीतर दान देनेकी प्रथा रही है। इसके दो कारण रहे हैं— एक तो यह कि जिन लोगोंने आत्म-कल्याण करनेकी भावनासे गृह-जंजालका परित्याग कर दिया और जो अहर्निश आत्म-साधनामें निरत रहने लगे, उनकी साधनामें सहायक होना गृहस्थोंने अपना अति आवश्यक कर्त्तव्य समझा और इस प्रकार घर-बार छोड़कर साधु-जीवन बिताने वालोंके भोजन-पानादिका उत्तरदायित्व उन्होंने अंगीकार किया। प्रकारान्तरसे अपनेको घर-बार छोड़नेमें असमर्थ पाकर एवं गृह-त्यागी पुरुषोंके धर्म-साधनमें कारित और अनुमोदनासे सहायक बनकर साधु बननेकी अपनी भावनाको उन्होंने कायम रखा। दूसरा कारण यह रहा है कि गृहस्थके न्यायपूर्वक आजीविका करते हुए भी चक्की चलाने, धान्यादि कूटने, पानी भरने, झाड़ू-बुहारी देने और भोजनादि बनानेमें अगणित जीवोंकी हिंसा होनेसे महान् पापका संचय होता रहता है। उस पापकी निवृत्तिके लिए भी गृहस्थने प्रतिदिन दान देना अपना कर्त्तव्य माना। इस प्रकार दान देनेकी भावनामें हमें स्पष्टरूपसे उक्त दो कारण ज्ञात होते हैं।

जैनाचार्योंने प्रथम कारणको ध्यानमें रखकर उसे 'अतिथिसंविभाग' नाम दिया और उसे श्रावकका बारहवाँ व्रत बतलाया। दूसरे कारणको लक्ष्यमें रख उसे 'दान' कहा, और उसे श्रावकके छह आवश्यकों में परिगणित किया। अतिथिको देनेके लिए गृहस्थ अपने भोग्य पदार्थोंमेंसे जो समुचित विभाग करता है उसे अतिथिसंविभाग कहते हैं। शास्त्रोंमें 'अतिथि' शब्दकी निरुक्ति दो प्रकारसे की गई है। जो कि इस प्रकार हैं—

"संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः॥" (सर्वार्थसिद्धि, अ०७, सू० २१)

संस्कृत साहित्यमें 'अत्' धातु निरन्तर गमन करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। तदनुसार जो अपने संयमकी रक्षा करते हुए निरन्तर गमन करता है, अर्थात् घर बनाकर किसी एक स्थान पर नहीं रहता है उसे 'अतिथि' कहते हैं। अथवा जिसके अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियोंका विचार नहीं है, अर्थात् सर्व पापोंका सर्वदाके लिए परित्याग कर देनेसे जिसके सभी तिथियां समान हैं, उसे 'अतिथि' कहते हैं। इन दोनों ही निरुक्तियोंके अनुसार 'अतिथि' शब्दका वाच्य गृह-त्यागी और संयम-धारक साधु-साध्वियोंसे रहा है। पीछे पीछे 'अतिथि' शब्दका उक्त यौगिक अर्थ गौण हो गया और वह वीतराग धर्मके धारण करनेवाले साधु-साध्वियोंके अतिरिक्त श्रावक और श्राविकाओंके लिए भी प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि इस उल्लेखसे स्पष्ट है—

"अतिथयः वीतरागधर्मस्थाः साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च। (धर्मबिन्दु, वृ० १५१)

इसी प्रकार संविभाग पदका भी अर्थ प्रारम्भमें साधुजनोंको खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय रूप चार प्रकारके आहार देनेसे रहा है। जैसा कि निम्न प्रकारसे स्पष्ट है—

अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम्।
अशनमतिथेर्विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य॥

(अमितगति श्रावकाचार, ६, ९६)

श्रावकके छह आवश्यकोंमें दान नामक जो छठा आवश्यक बतलाया गया, उसके द्वारा गृहस्थको यह उपदेश दियागया कि वह साधुजनोंको प्रतिदिन आहार देनेके अतिरिक्त बीमारीकी अवस्थामें औषधिका भी दान करे। भयभीतोंको अभयदान दे और ज्ञानके इच्छुक जनोंको ज्ञानदान भी देवे। इस प्रकार गृहस्थके दान आवश्यकके अन्तर्गत आहारदान, औषधि-

दान, अभयदान और ज्ञानदानके रूपमें चार प्रकारके दान का विधान किया गया।

जैन शास्त्रोंमें दिये गये अतिथिसंविभाग और दानके क्रम-विकसित लक्षणोंपर दृष्टिपात करनेसे सहजमें ही यह ज्ञात हो जाता है कि अतिथि-संविभागका क्षेत्र जैन या वीतरागधर्मस्थ मनुष्यों तक ही सीमित रहा है, जब कि दानका क्षेत्र प्राणि-मात्र तक विस्तृत रहा है। लेकिन दोनोंके इस सीमित और असीमित क्षेत्रके कारण कोई यह न समझ लेवे कि दान देना अधिक लाभप्रद होगा। फलकी दृष्टिसे तो दोनोंमें महान अन्तर है, अपात्रोंमें दिया गया भारी भी दान अल्प फलका देनेवाला होता है, जब कि पात्रमें दिया गया अल्प भी दान महान् फलका दाता होता है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे स्पष्ट है—

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥
(रत्नकरण्डक, श्लो० ११६)

अर्थात् जैसे उत्तम भूमिमें बोया गया बटका छोटासा भी बीज आगे जाकर विशाल छाया और मिष्ट फल दाता होता है, इसी प्रकार योग्य पात्रमें दिया गया थोड़ा सा भी दान समय आने पर महान् इष्ट फलको देता है।

किन्तु उक्त उल्लेखसे कोई यह न समझ लेवे कि जब ऐसा है, तब केवल अतिथि या योग्य पात्रको ही दान देना चाहिए, अन्यको नहीं। अतिथि-संविभाग-में धार्मिक भावकी प्रधानता है, जब कि सर्वसाधारण-को दान देनेमें कारुण्य भावकी प्रधानता है। इसी भावको तत्त्वार्थसूत्रकारने 'भूत-व्रत्यनुकम्पादान' पदसे ध्वनित किया है। दोनोंके फलोंमें एक दूसरा महत्त्व-पूर्ण अन्तर और भी है और यह अन्तर वही है जो कि धर्म और पुण्यके फलमें बतलाया गया है। धर्मका फल पारमार्थिक है, अर्थात् सांसारिक दुःखोंसे छुड़ा-कर आत्माके स्वभाविक सुखकी उपलब्धि कराना है, जब कि पुण्यका फल ऐहिक है, अर्थात् सांसारिक सुखोंका प्राप्त कराना है। इसे हम दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अतिथि-संविभाग त्याग-प्रधान होनेसे धर्मरूप है, जबकि दान प्रवृत्ति-प्रधान होनेसे पुण्यरूप है। गृहस्थके लिए दोनोंकी आवश्यकता है, इसी कारण आचार्योंने उक्त दोनोंका विधान किया है। अतिथिसंविभागका फल आत्मिक गुणोंका विकास करना है, जब कि आहार दानका फल धन-ऐश्वर्यकी प्राप्ति, औषधिदानका फल शरीरकी निरोगता, ज्ञानदानका फल ज्ञान-प्रतिष्ठा-सम्मानकी प्राप्ति और अभयदानका फल निर्भयता बतलाया गया है। इस प्रकार ऐहिक सुखदायक पुण्यकार्य होने पर भी दानकी अपेक्षा अतिथिसंविभागव्रतका महत्व कई गुणा अधिक हो जाता है, क्योंकि यह श्रावकका एक महत्वपूर्ण आवश्यक धर्म है।

श्रावकधर्मका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रोंमें हम श्रावकाचारका क्रम विकसित रूपसे देखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्त्तिकेय, उमास्वाति और समन्त-भद्रने श्रावकके बारह व्रतोंका ही विधान किया है; उनके ग्रन्थोंमें देवपूजादि छह आवश्यकोंका कहीं भी पृथक् निर्देश दृष्टिगोचर नहीं होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनमेंसे कुछ एक आवश्यकोंका यथा-सम्भव बारह व्रतोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारके पश्चात् रचे गये श्रावकाचारों-में देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान नामक छह कर्त्तव्योंका प्रतिदिन करना जरूरी माना गया है और इसी कारण उन्हें आवश्यक संज्ञा दी गई है।

प्रारम्भमें श्रावकोंके छह आवश्यकोंका विधान न होने और पीछे उनका विधान किया जानेकी तहमें क्या रहस्य है, इस पर गंभीरतासे विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि काल-क्रमसे जब मनुष्योंमें श्रावकके बारह व्रतोंको धारण करनेकी शिथिलता या असमर्थता दृष्टिगोचर होने लगी और कुछ इने-गिने विशेष व्यक्ति ही उन बारह व्रतोंके धारक होने लगे, तब तात्कालिक आचार्योंने मनुष्योंके आचार-विचारको स्थिर बनाये रखनेके लिए देवपूजादि छह आवश्यक कर्त्तव्योंके प्रतिदिन करनेका विधान किया

और इस प्रकार उन्होंने गृहस्थोंके दिन पर दिन गिरते हुए आचारको बनाये रखनेका एक प्रशस्त प्रयास किया।

अन्तमें एक और भी बातकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि जहाँ अन्य आचार्यों-ने श्रावकका बारहवाँ व्रत 'अतिथिसंविभाग' और छठा आवश्यक 'दान' बतलाया, वहाँ समन्तभद्र स्वामीने उन दोनोंके स्थानपर 'वैयावृत्य' नामके व्रतका विधान किया है। इस व्रतका स्वरूप-निरूपण करते हुए उन्होंने 'अतिथिसंविभाग' और 'दान' का समावेश तो कर ही लिया है, साथ ही उसके सम्बन्ध-में उन्होंने कुछ और भी आवश्यक बातें विस्तारके साथ वर्णन की हैं। वहाँ बतलाया गया है कि गृहस्थ गुणानुरागसे प्रेरित होकर संयमी जनोंके ऊपर आई हुई आपत्तियोंको दूर करे, रोगी और चर्यासे क्लान्त साधुओंकी पग-चम्पी करे, सेवा-टहल और सार-संभाल कर सर्व प्रकारसे उनकी वैयावृत्य करे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'जिन-पूजन' को भी वैयावृत्यके ही अन्तर्गत करके श्रावकाचारोंमें सर्वप्रथम नित्य देव-पूजाका विशेषरूपसे विधान किया है। इस प्रकार श्रावकके इस बारहवें व्रतका 'वैयावृत्त्य' नाम देकर समन्तभद्राचार्यने इस व्रतको और भी व्यापक एवं महत्वपूर्ण बना दिया है।